पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला: ५२

संपादक प्रो० सागरमल जैन

# अनेकान्तवाद

## स्याद्वाद और सप्तभंगी

### एक चिन्तन

प्रो० सागरमल जैन

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

H
181.492
J 199 J

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५२ सम्पादक–प्रो० सागरमल जैन

# अनेकांत, स्याद्वाद और सप्तभंगी
## एक चिन्तन

लेखक
प्रो० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड,
वाराणसी–५
फोन–३११४६२

Library IIAS, Shimla
H 181.492 J 199 J
00094582

संस्करण : प्रथम १९९०

मूल्य : रु० १०.००

Anekanta, Syādvāda Aura Saptabhaṅgī : Eka Cintana.
By Dr. Sagarmal Jain

Price Rs. 10.00

First Edition 1990

मुद्रक
डिवाइन प्रिन्टर्स
सोनारपुरा, वाराणसी

# स्याद्वाद और सप्तभंगी : एक चिन्तन

**स्याद्वाद का अर्थ-विश्लेषण :**

स्याद्वाद शब्द स्यात् और वाद इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। अतः स्याद्वाद को समझने के लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ विश्लेषण आवश्यक है। स्यात् शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में जितनी भ्रान्ति दार्शनिकों में रही है, सम्भवतः उतनी अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध में नहीं। विद्वानों द्वारा हिन्दी भाषा में स्यात् का अर्थ "शायद", "सम्भवतः", "कदाचित्" और अंग्रेजी भाषा में probable, may be, perhaps, some how आदि किया गया है और इन्हीं अर्थों के आधार पर उसे संशयवाद, सम्भावनावाद या अनिश्चयवाद समझने की भूल की जाती रही है। यह सही है कि किन्हीं संदर्भों में स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित्, शायद, सम्भव आदि भी होता है। किन्तु इस आधार पर स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चयवाद मान लेना एक भ्रान्ति ही होगी। हमें यहाँ इस बात को भी स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि प्रथम तो एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; दूसरे अनेक बार शब्दों का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ में न होकर विशिष्ट अर्थ में होता है, जैसे जैन परम्परा में धर्म शब्द का प्रयोग धर्म-द्रव्य के रूप में होता है। जैन आचार्यों ने स्यात् शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में ही किया है। यदि स्याद्वाद के आलोचक विद्वानों ने स्याद्वाद सम्बन्धी किसी भी मूल-ग्रन्थ को देखने की कोशिश की होती, तो उन्हें स्यात् शब्द का जैन परम्परा में क्या अर्थ है, यह स्पष्ट हो जाता। स्यात् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण उसे तिङन्त पद मान लेना है, जबकि समन्तभद्र, विद्यानन्दि, अमृतचन्द्र, मल्लिषेण आदि सभी जैन आचार्यों ने इसे निपात या अव्यय माना है। समन्तभद्र स्यात् शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में लिखते हैं कि स्यात्— यह निपात शब्द है, जो अर्थ के साथ संबंधित होने पर वाक्य में

अनेकान्तता का द्योतक और विवक्षित अर्थ का एक विशेषण है।[1] इसी प्रकार पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र भी स्यात् शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'स्यात्' एकान्तता का निषेधक, अनेकान्तता का प्रतिपादक तथा कथंचित् अर्थ का द्योतक एक निपात शब्द है।[2]

मल्लिषेण ने भी स्याद्वादमंजरी में स्यात् शब्द को अनेकान्तता का द्योतक एक अव्यय माना है।[3] इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन विचारकों की दृष्टि में स्यात् शब्द संशयपरक न होकर अनेकान्तिक किन्तु निश्चयात्मक अर्थ का द्योतक है। मात्र इतना ही नहीं जैन दार्शनिक इस सम्बन्ध में भी सजग थे कि आलोचक या जनसाधारण द्वारा स्यात् शब्द का संशयपरक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, इसलिए उन्होंने स्यात् शब्द के साथ "एव" शब्द के प्रयोग की योजना भी की है, जैसे "स्यादस्त्येव घटः" अर्थात् किसी अपेक्षा से यह घड़ा ही है। यह स्पष्ट है कि "एव" शब्द निश्चयात्मकता का द्योतक है। "स्यात्" तथा "एव" शब्दों का एक साथ प्रयोग श्रोता की संशयात्मकता को समाप्त कर उसे सापेक्षिक किन्तु निश्चित ज्ञान प्रदान करता है। वस्तुतः इस प्रयोग में "एव" शब्द 'स्यात्' शब्द की अनिश्चितता को समाप्त कर देता है और "स्यात्" शब्द "एव" शब्द की निरपेक्षता एवं एकान्तता को समाप्त कर देता है और इस प्रकार वे दोनों मिलकर कथित वस्तु-धर्म की सीमा नियत करते हुए सापेक्ष किन्तु निश्चित ज्ञान प्रस्तुत करते हैं। अतः स्याद्वाद को संशयवाद या सम्भावनावाद नहीं कहा जा सकता है। "वाद" शब्द का अर्थ कथनविधि है। इसप्रकार स्याद्वाद सापेक्षिक कथन पद्धति या सापेक्षिक निर्णय पद्धति का सूचक है। वह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तुतत्त्व का विविध पहलुओं या विविध आयामों से विश्लेषण करता है और अपने उन विश्लेषित विविध निर्णयों को इस

---

१. वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्य प्रति विशेषक।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥ —आप्तमीमांसा १०३।

२. सर्वथात्व निषेधकोऽनेकांतता द्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः।
—पंचास्तिकाय टीका

३. स्यादित्यव्ययमनेकांतद्योतकं। —स्याद्वादमंजरी

प्रकार की भाषा में प्रस्तुत करता है कि वे अपने पक्ष की स्थापना करते हुए भी वस्तुतत्त्व में निहित अन्य "अनुक्त" अनेकानेक धर्मों एवं सम्भावनाओं ( पर्यायों ) का निषेध न करें। वस्तुतः स्याद्वाद हमारे निर्णयों एवं तज्जनित कथनों को प्रस्तुत करने का एक निर्दोष एवं अहिंसक तरीका है, अविरोधपूर्वक कथन की एक शैली है। उसका प्रत्येक भंग अनेकान्तिक ढंग से एकान्तिक कथन करता है, जिसमें वक्ता अपनी बात इस ढंग से कहता है कि उसका वह कथन अपने प्रतिपक्षी कथनों का पूर्ण निषेधक न बने। संक्षेप में स्याद्वाद अपने समग्र रूप में अनेकान्त है और प्रत्येक भंग की दृष्टि से सम्यक् एकांत भी है। सप्तभंगी अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के संबंध में एक ऐसी कथन-पद्धति या वाक्य-योजना है, जो उसमें अनुक्त धर्मों की संभावना का निषेध करते हुए सापेक्षिक किन्तु निश्चयात्मक ढंग से वस्तुतत्त्व के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि में रखते हुए उसके किसी एक धर्म का मुख्य रूप से प्रतिपादन या निषेध करती है। इसी प्रकार अनेकांतवाद भी वस्तुतत्त्व के सन्दर्भ में एकाधिक निर्णयों को स्वीकृत करता है। वह कहता है कि एक ही वस्तुतत्त्व के सन्दर्भ में विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर अनेक निर्णय ( कथन ) दिये जा सकते हैं अर्थात् अनेकांत वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक निर्णयों या निष्कर्षों की सम्भाव्यता का सिद्धांत है। जैनाचार्यों ने अनेकांत को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'सर्वथैकान्त प्रतिक्षेप लक्षणोऽनेकांतः' अर्थात् अनेकांत मात्र एकांत का निषेध है और वस्तु में निहित परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रकाशक है।

### स्याद्वाद के आधार

सम्भवतः यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की क्या आवश्यकता है ? स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की आवश्यकता के मूलतः चार कारण हैं—

१. वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता,

२. मानवीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों की सीमितता,

३. मानवीय ज्ञान की अपूर्णता एवं सापेक्षता, तथा

४. भाषा के अभिव्यक्ति सामर्थ्य की सीमितता एवं सापेक्षता।

**(अ) वस्तुतत्त्व को अनन्तधर्मात्मकता**

सर्वप्रथम स्याद्वाद के औचित्य स्थापन के लिए हमें वस्तुतत्त्व के उस स्वरूप को समझ लेना होगा, जिसके प्रतिपादन का हम प्रयास करते हैं। वस्तुतत्त्व मात्र सीमित लक्षणों का पुंज नहीं है, जैन दार्शनिकों ने उसे अनन्तधर्मात्मक कहा है। यदि हम वस्तुतत्त्व के भावात्मक गुणों पर ही विचार करें तो उनकी संख्या भी अनेक होगी। उदाहरणार्थ गुलाब का फूल गन्ध की दृष्टि से सुगन्धित है, तो वर्ण की दृष्टि से किसी एक या एकाधिक विशिष्ट रंगों से युक्त है, स्पर्श की दृष्टि से उसकी पंखुड़ियाँ कोमल हैं, किन्तु डंठल तीक्ष्ण है, उसमें एक विशिष्ट स्वाद है, आदि आदि। यह तो हुई वस्तु के भावात्मक धर्मों की बात, किन्तु उसके अभावात्मक धर्मों की संख्या तो उसके भावात्मक धर्मों की अपेक्षा कई गुना अधिक होगी, जैसे गुलाब का फूल, चमेली का, मोगरे का या पलास का फूल नहीं है। वह अपने से इतर सभी वस्तुओं से भिन्न है और उसमें उन सभी वस्तुओं के अनेकानेक धर्मों का अभाव भी है। पुनः यदि हम वस्तुतत्त्व की भूत एवं भावी तथा व्यक्त और अव्यक्त पर्यायों (सम्भावनाओं) पर विचार करें तो उसके गुण धर्मों की यह संख्या और भी अधिक बढ़कर निश्चित ही अनन्त तक पहुँच जावेगी। अतः यह कथन सत्य है कि वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मों, अनन्त गुणों एवं अनन्त पर्यायों का पुंज है। मात्र इतना ही नहीं वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक होने के साथ-साथ अनेकान्तिक भी है, मानव बुद्धि जिन्हें परस्पर विरोधी गुण मान लेती है वे एक ही वस्तुतत्त्व में अपेक्षा भेद से एक साथ रहते हुए देखे जाते है।[1]

अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक है और नास्तित्व अस्तित्व पूर्वक है। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है, जो द्रव्य दृष्टि से नित्य है, वही पर्यायदृष्टि से अनित्य भी है। उत्पत्ति के बिना विनाश और विनाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है। पुनः उत्पत्ति और विनाश के लिए ध्रौव्यत्व भी अपेक्षित है अन्यथा उत्पत्ति और विनाश किसका होगा? क्योंकि विश्व में विनाश के अभाव से उत्पत्ति जैसी भी कोई स्थिति

१. कीदृशं वस्तु ? नाना धर्मयुक्तं विविधस्वभावैः सहितं, कथंचित्
अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्व नित्यत्वानित्यत्व-भिन्नत्व प्रमुखेराविष्टम्।
—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टीका शुभचन्द्र; २५३

नहीं है। यद्यपि ध्रौव्यत्व और उत्पत्ति-विनाश के धर्म परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों को सहवर्ती माने बिना विश्व की व्याख्या असम्भव है। यही कारण था कि भगवान् महावीर ने अपने युग में प्रचलित शाश्वत-वादी और उच्छेदवादी आदि परस्पर विरोधी विचार धाराओं के मध्य में समन्वय करते हुए अनेकान्तिक दृष्टि से वस्तुतत्त्व को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहकर परिभाषित किया।[1] जिनोपदिष्ट यह त्रिपदी ही अनेकान्तवादी विचार-पद्धति का आधार है। स्याद्वाद और नयवाद सम्बन्धी विपुल साहित्य मात्र इसका विस्तार है। त्रिपदी ही जिन द्वारा वपित वह "बीज" है जिससे स्याद्वाद रूपी वट वृक्ष विकसित हुआ है। यह वस्तुतत्त्व के उस अनेकान्तिक स्वरूप की सूचक है जिसका स्पष्टीकरण भगवतीसूत्र में स्वयं भगवान् महावीर ने विविध प्रसंगों में किया है। उदाहरणार्थ जब महावीर से गौतम ने यह पूछा कि हे भगवन्! जीव नित्य या अनित्य है? हे गौतम! जीव अपेक्षाभेद से नित्य भी है और अनित्य भी। भगवन्! यह कैसे? हे गौतम! द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य है, पर्याय दृष्टि से अनित्य।[2] इसी प्रकार एक अन्य प्रश्न के उत्तर में उन्होंने सोमिल को कहा था कि—हे सोमिल! द्रव्य-दृष्टि से मैं एक हूँ, किन्तु परिवर्तनशील चेतनावस्थाओं (पर्यायों) की अपेक्षा से मैं अनेक भी हूँ।[3] वस्तुतत्त्व के इस अनन्तधर्मात्मक एवं अनेकान्तिक स्वरूप का यह प्रतिपादन उक्त आगम में बहुत ही विस्तार के साथ हुआ है किन्तु लेख की मर्यादा को दृष्टिगत रखते हुए उपरोक्त एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे।

वस्तुतत्त्व की यह अनन्तधर्मात्मकता तथा उसमें विरोधी धर्म-युगलों की एक साथ उपस्थिति अनुभव सिद्ध है। एक ही आम्रफल खट्टा और मधुर (खट्टा-मीठा) दोनों ही हो सकता है। पितृत्व और पुत्रत्व के दो विरोधी गुण अपेक्षा भेदसे एक ही व्यक्तिमें एक ही समयमें साथ-साथ सिद्ध हो सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि जिन्हें हम विरोधी धर्म युगल मान लेते हैं, उनमें सर्वथा या निरपेक्ष रूप से विरोध नहीं है। अपेक्षा भेद से उनका एक ही वस्तुतत्त्व में एक ही समय में होना सम्भव है। भिन्न-

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्युक्तं सत्—तत्त्वार्थसूत्र ५-२९

२. गोयमा! जीवा सिय सासया सिय असासया—दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया—भगवती सूत्र ७-३-२७३।

३. भगवतीसूत्र—१-८-१०।

भिन्न अपेक्षाओं से एक ही व्यक्ति छोटा या बड़ा कहा जा सकता है अथवा एक ही वस्तु ठण्डी या गरम कही जा सकती है। जो संखिया जनसाधरण की दृष्टि में विष (प्राणापहारी) है, वही एक वैद्य की दृष्टि में औषधि (जीवन-संजीवनी) भी है। अतः यह एक अनुभवजन्य सत्य है कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म-युगलों की उपस्थिति देखी जाती है। यहाँ हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म युगलों की उपस्थिति तो होती है, किन्तु सभी विरोधी धर्म युगलों की उपस्थिति नहीं होती है। इस सम्बन्ध में धवला का निम्न कथन द्रष्टव्य है—"यदि (वस्तु में) सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य, अचैतन्य, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ आत्मा में रहने का प्रसंग आ जावेगा।[1] अतः यह मानना अधिक तर्कसंगत है कि वस्तु में केवल वे ही विरोधी धर्म युगल युगपत् रूप में रह सकते हैं, जिनका उस वस्तु में अत्यन्ताभाव नहीं है। किन्तु इस बात से वस्तुतत्त्व का अनन्तधर्मात्मक स्वरूप खण्डित नहीं होता है और वस्तुतत्त्व में नित्यता-अनित्यता, एकत्व-अनेकत्व, अस्तित्व-नास्तित्व, भेदत्व-अभेदत्व आदि अनेक विरोधी धर्म युगलों की युगपत् उपस्थिति मानी जा सकती है। आचार्य अमृतचन्द्र 'समयसार' की टीका में लिखते हैं कि अपेक्षा भेद से जो है, वही नहीं भी है, जो सत् है वह असत् भी है, जो एक है वह अनेक भी है, जो नित्य है वही अनित्य भी है।[2] वस्तु एकान्तिक न होकर अनेकान्तिक है। आचार्य हेमचन्द्र अन्ययोग-व्यवच्छेदिका में लिखते हैं कि विश्व की समस्त वस्तुएँ स्याद्वाद की मुद्रा से युक्त हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।[3] यद्यपि वस्तुतत्त्व का यह अनन्तधर्मात्मक एवं अनेकान्तिक स्वरूप हमें असमंजस में अवश्य डाल देता है किन्तु यदि वस्तु स्वभाव ऐसा ही है, हम क्या करें? बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों में 'यदिदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते के वयं'? पुनः हम जिस वस्तु या द्रव्य की विवेचना

---

१. धवला खण्ड १, भाग १, सूत्र ११, पृ० १६७—उद्धृत तीर्थंकर महावीर—डॉ० भारिल्ल

२. यदेव तत् तदेव अतत् यदेवेकं तदेवानेकं, यदेव सत् तदेवासत्, यदेवनित्यं तदेवानित्यं—समयसार टीका (अमृतचन्द)

३. आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रा नतिमेदि वस्तु—अन्ययोगव्यवच्छेदिका ५।

करना चाहते हैं, वह है क्या ? जहाँ एक ओर द्रव्य को गुण और पर्यायों का आश्रय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसे गुणों का समूह भी कहा गया है। गुण और पर्यायों से पृथक् द्रव्य की कोई सत्ता ही नहीं है और द्रव्य से पृथक गुण और पर्यायों की कोई सत्ता नहीं है। यह है वस्तु की सापेक्षितता और यदि वस्तुतत्त्व सापेक्षिक, अनन्तधर्मात्मक और अनेकान्तिक है, तो फिर उसका ज्ञान एवं उसकी विवेचना निरपेक्ष एवं एकान्तिक दृष्टि से कैसे सम्भव है ? इसलिए जैन आचार्यों का कथन है कि (अनन्तधर्मात्मक) मिश्रित तत्त्व की विवेचना बिना अपेक्षा के सम्भव नहीं है।[1]

**(ब) मानवीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों का स्वरूप :**

यह तो हुई वस्तु स्वरूप की बातें, किन्तु जिस वस्तु स्वरूप का ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए हमारे पास साधन क्या है; हमें उन साधनों के स्वरूप एवं उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। मनुष्य के पास अपनी सत्याभीप्सा और जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन हैं :—

१. इन्द्रियाँ और २. तर्कबुद्धि।

मानव अपने इन्हीं सीमित साधनों द्वारा वस्तुतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है। जहाँ तक मानव के ऐन्द्रिक ज्ञान का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि ऐन्द्रिक ज्ञान न पूर्ण है और न निरपेक्ष। मानव इन्द्रियों की क्षमता सीमित है, अतः वे वस्तुतत्त्व का जो भी स्वरूप जान पाती हैं, वह पूर्ण नहीं हो सकता है। इन्द्रियाँ वस्तु को अपने पूर्ण स्वरूप में देख पाने के लिए सक्षम नहीं हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हम वस्तुतत्त्व को जिस रूप में वह है वैसा नहीं जान कर उसे जिस रूप में इन्द्रियाँ हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं, उसी रूप में जानते हैं। हम इन्द्रिय संवेदनों को जान पाते हैं, वस्तुतत्त्व को नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा आनुभविक ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष है। मात्र इतना ही नहीं, वह इन्द्रिय सापेक्ष होने के साथ-साथ उन कोणों पर भी निर्भर रहता है जहाँ से वस्तु देखी जा रही है और यदि हम उस कोण (स्थिति) के विचार को अपने

---

१. न विवेचयितुं शक्यं विनाऽपेक्षां हि मिश्रितम्। —अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ४, पृ० १८५३

ज्ञान से अलग करते हैं, तो निश्चित ही हमारा ज्ञान भ्रान्त हो जायेगा। उदाहरणार्थ एक गोल सिक्का अपने अनेक कोणों से हमें वृत्ताकार न लग कर अण्डाकार दिखाई देता है। विभिन्न गुरुत्वाकर्षणों एवं विभिन्न शारीरिक स्थितियों से एक ही वस्तु हल्की या भारी प्रतीत होती है। हमारी पृथ्वी को जब हम उसके गुरुत्वाकर्षण की सीमा से ऊपर जाकर देखते हैं तो गतिशील दिखाई देती है, किन्तु यहाँ वह हमें स्थिर प्रतीत होती है। दूर से देखने पर वस्तु छोटी और पास से देखने पर बड़ी दिखाई देती है। एक टेबल के जब विविध कोणों से फोटो लिए जाते हैं तो वे परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार हमारा सारा आनुभविक ज्ञान सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं। इन्द्रिय सम्वेदनों को उन सब अपेक्षाओं (Conditions) से अलग हटकर नहीं समझा जा सकता है, जिनमें कि वे हुए हैं। अतः ऐन्द्रिकज्ञान दिक्, काल और व्यक्ति सापेक्ष ही होता है।

किन्तु मानव मन कभी भी इन्द्रियानुभूति या प्रतीति के ज्ञान को ही अन्तिम सत्य मानकर सन्तुष्ट नहीं होता, वह उस प्रतीति के पीछे भी झांकना चाहता है। इस हेतु वह अपनी तर्कबुद्धि का सहारा लेता है। किन्तु क्या तार्किक ज्ञान निरपेक्ष हो सकता है? प्रथम तो तार्किक ज्ञान भी पूरी तरह से इन्द्रिय सम्वेदनों से निरपेक्ष नहीं होता है, दूसरे तार्किक ज्ञान वस्तुतः एक सम्बन्धात्मक ज्ञान है। बौद्धिक चिन्तन कारण-कार्य, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति आदि विचार विधाओं से घिरा हुआ है और अपनी इन विचार विधाओं के आधार पर वह सापेक्ष ही होगा। तर्कबुद्धि जब भी किसी वस्तु के स्वरूप का निश्चय कर कोई निर्णय प्रस्तुत करती है, तो वह हमें दो तथ्यों के बीच किसी सम्बन्ध या असम्बन्ध की ही सूचना प्रदान करतो है और ऐसा सम्बन्धात्मक ज्ञान सम्बन्ध सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। क्योंकि सभी सम्बन्ध (Relations) सापेक्ष होते हैं।

### (स) मानवीय ज्ञान की सीमितता एवं सापेक्षता :

वस्तुतः वस्तुतत्त्व का यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान सीमित क्षमता वाले मानव के लिए सदैव ही एक जटिल प्रश्न रहा है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से आगे नहीं जा पाये हैं और जब इस आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो वह

सत्य, सत्य न रह करके असत्य बन जाता है। वस्तुतत्त्व न केवल उतना ही है जितना कि हम इसे जान पा रहे हैं। मनुष्य की ऐन्द्रिक ज्ञान क्षमता एवं तर्क बुद्धि इतनी अपूर्ण है कि वह सम्पूर्ण सत्य को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती। साधारण मानव-बुद्धि पूर्ण सत्य को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती। अतः साधारण मानव पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। जैन दृष्टि के अनुसार सत्य अज्ञेय तो नहीं है किन्तु बिना पूर्णता को प्राप्त किये उसे पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने कहा था कि "हम केवल सापेक्षिक सत्य को जान सकते हैं, निरपेक्ष सत्य को तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकेगा।"[1] और ऐसी स्थिति में जबकि हमारा समस्त ज्ञान आंशिक, अपूर्ण तथा सापेक्षिक है, हमें यह दावा करने का कोई अधिकार नहीं है कि मेरी दृष्टि ही एक-मात्र सत्य है और सत्य मेरे ही पास है। हमारा आंशिक, अपूर्ण और सापेक्षिक ज्ञान निरपेक्ष सत्यता का दावा नहीं कर सकता है। अतः ऐसे ज्ञान के लिए हमें ऐसी कथन पद्धति की योजना करनी होगी, जो कि दूसरों के अनुभूत सत्यों का निषेध नहीं करते हुए अपनी बात कह सके। हम अपने ज्ञान की सीमितता के कारण अन्य सम्भावनाओं (Possibilities) को निरस्त नहीं कर सकते हैं।

**क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष होता है ?**

यद्यपि जैन दर्शन में यह माना गया है कि सर्वज्ञ या केवली सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष है। इस सन्दर्भ में जैन दार्शनिकों में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ समकालीन जैन विचारक सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष मानते हैं जब कि दूसरे कुछ विचारकों के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। श्री दलसुखभाई मालवणिया ने ने "स्याद्वादमंजरी" की भूमिका में सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष सत्य बताया है। जबकि मुनि श्री नगराजजी ने "जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान" नामक पुस्तिका में यह माना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान भी कहने भर को ही

---

1. "We can only know the relative truth, the real truth is known only to the Universal Observer."
—Quoted in Cosmology Old and New p. XIII.

निरपेक्ष है क्योंकि स्यादस्ति स्यान्नास्ति से परे वह भी नहीं है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ तक सर्वज्ञ के वस्तु जगत के ज्ञान का प्रश्न है उसे निरपेक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके ज्ञान का विषय अनन्त धर्मात्मक वस्तु है। अतः सर्वज्ञ भी वस्तुतत्त्व के अनन्त गुणों को अनन्त-अपेक्षाओं से ही जान सकता है। वस्तुगत ज्ञान या वैषयिक ज्ञान (Objective knowledge) कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता, फिर चाहे वह सर्वज्ञ का ही क्यों न हो? इसीलिए जैन आचार्यों का कथन है कि दीप से लेकर व्योम तक वस्तु-मात्र स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित हैं। किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहाँ तक सर्वज्ञ के आत्म-बोध का प्रश्न है वह निरपेक्ष हो सकता है क्योंकि वह विकल्प रहित होता है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा था कि व्यवहार दृष्टि से सर्वज्ञ सभी द्रव्यों को जानता है किन्तु परमार्थतः तो वह आत्मा को ही जानता है। वस्तुस्थिति यह है कि सर्वज्ञ का आत्म-बोध तो निरपेक्ष होता है किन्तु उसका वस्तु-विषयक ज्ञान सापेक्ष होता है।

**(द) भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की सीमितता और सापेक्षता :**

सर्वज्ञ या पूर्ण के लिए भी, जो सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, सत्य का निरपेक्ष कथन या अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण सत्य को चाहे जाना जा सकता हो किन्तु कहा नहीं जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति का जब भी कोई प्रयास किया जाता है, तो वह सापेक्षिक बन जाता है। क्योंकि सर्वज्ञ को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसी भाषा का सहारा लेना होता है, जो कि सीमित एवं अपूर्ण है। "है" और "नहीं है" की सीमा से घिरी हुई है। अतः भाषा पूर्ण सत्य को निरपेक्षतया अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

प्रथम तो वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, जबकि मानवीय भाषा की शब्द संख्या सीमित है। जितने वस्तु-धर्म हैं, उतने शब्द नहीं हैं। अतः अनेक धर्म अनुक्त (अकथित) रहेंगे ही। पुनः मानव की जितनी अनुभूतियाँ हैं, उन सबके लिए भी भाषा में पृथक-पृथक शब्द नहीं हैं। हम गुड़, शक्कर, आम आदि की मिठास को भाषा में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते क्योंकि सभी की मिठास के लिए अलग-अलग शब्द नहीं

हैं। आचार्य नेमिचन्द्र 'गोम्मटसार' में लिखते हैं कि हमारे अनुभूत भावों का केवल अनन्तवाँ भाग ही कथनीय होता है और जितना कथनीय है, उसका भी एक अंश ही भाषा में निबद्ध करके लिखा जाता है (गोम्मटसार जीवकाण्ड ३३४)। चाहे निरपेक्ष ज्ञान को सम्भव भी मान लिया जाय, किन्तु निरपेक्ष कथन तो कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि जो कुछ भी कहा जाता है, वह किसी न किसी सन्दर्भ में (**in a certain context**) कहा जाता है और उस सन्दर्भ में ही उसे ठीक प्रकार से समझा जा सकता है अन्यथा भ्रान्ति होने की संभावना रहती है। इसीलिए जैन आचार्यों का कथन है कि जगत में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह सब किसी विवक्षा या नय से गर्भित होता है। जिन या सर्वज्ञ की वाणी भी अपेक्षा रहित नहीं होती है। वह सापेक्ष ही होती है। अतः वक्ता का कथन समझने के लिए भी अपेक्षा का विचार आवश्यक है।

पुनश्च जब वस्तुतत्त्व में अनेक विरुद्ध धर्म-युगल भी रहे हुए हैं, तो शब्दों द्वारा उनका एक साथ प्रतिपादन सम्भव नहीं है। उन्हें क्रमिक रूप में ही कहा जा सकता है। शब्द एक समय में एक ही धर्म को अभिव्यक्त कर सकता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के समस्त धर्मों का एक साथ कथन भाषा की सीमा के बाहर है। अतः किसी भी कथन में वस्तु के अनेक धर्म अनुक्त (अकथित) ही रह जावेंगे और एक निरपेक्ष कथन अनुक्त धर्मों का निषेध करने के कारण असत्य हो जावेगा। हमारा कथन सत्य रहे और हमारे वचन व्यवहार से श्रोता को कोई भ्रान्ति न हो इसलिए सापेक्षिक कथन पद्धति ही समुचित हो सकती है। जैनाचार्यों ने स्यात् को सत्य का चिह्न[1] इसीलिए कहा है कि वह अपेक्षा पूर्वक कथन करके हमारे कथन को अविरोधी और सत्य बना देता है तथा श्रोता को कोई भ्रान्ति भी नहीं होने देता है।

**स्याद्वाद और अनेकान्त :**

साधारणतया अनेकान्त और स्याद्वाद पर्यायवाची माने जाते हैं।[2] अनेक जैनाचार्यों ने इन्हें पर्यायवाची बताया भी है। किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। अनेकान्त स्याद्वाद की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ का द्योतक है। जैनाचार्यों ने दोनों में व्यापक-व्याप्य भाव माना है। अनेकान्त

---

१. स्याकारः सत्यलाञ्छनः।

२. ततः स्याद्वाद अनेकांतवाद—स्याद्वादमंजरी।

व्यापक है और स्याद्वाद व्याप्य। अनेकान्त वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक। अनेकान्त वस्तुस्वरूप है, तो स्याद्वाद उस अनेकान्तिक वस्तु स्वरूप के कथन की निर्दोष भाषा-पद्धति। अनेकान्त दर्शन है, तो स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्ति का ढंग।

**विभज्जवाद और स्याद्वाद :**

विभज्जवाद स्याद्वाद का ही एक अन्य पर्यायवाची एवं पूर्ववर्ती है। सूत्रकृतांग में महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह स्पष्ट निर्देश दिया कि वे विभज्जवाद की भाषा का प्रयोग करें।[1] इसी प्रकार भगवान बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में स्पष्ट रूप से कहा था कि हे माणवक! मैं विभज्जवादी हूँ, एकान्तवादी नहीं। विभज्जवाद वह सिद्धान्त है, जो प्रश्न को विभाजित करके उत्तर देता है। जब बुद्ध से यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि गृहस्थ एवं त्यागी यदि मिथ्यावादी हैं तो आराधक नहीं हो सकते। किन्तु यदि दोनों ही सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो दोनों ही आराधक हो सकते हैं।[2] इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने यह पूछा कि सोना अच्छा है या जागना, तो उन्होंने कहा था कि कुछ जीवों को सोना अच्छा है और कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्माओं का जागना।[3] इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वक्ता को उसके प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देना विभज्जवाद है। प्रश्नों के उत्तरों की यह विश्लेषणात्मक शैली विचारों को सुलझाने वाली तथा वस्तु के अनेक आयामों को स्पष्ट करने वाली है। इससे वक्ता का विश्लेषण एकांगी नहीं बनता है। बुद्ध और महावीर का यह विभज्जवाद ही आगे चलकर शून्यवाद और स्याद्वाद में विकसित हुआ है।

**शून्यवाद और स्याद्वाद :**[4]

भगवान् बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दोनों को अस्वीकार

---

१. भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा—सूत्रकृतांग—१।१।४।२२।

२. मज्झिमनिकाय—सूत्र ९९ (उद्धृत, आगमयुग का जैन दर्शन, पृ० ५३)।

३. भगवतीसूत्र १२-२-४४३।

४. देखिए—शून्यवाद और स्याद्वाद नामक लेख—पं० दलसुखभाई मालवणिया।
—आचार्य आनन्द ऋषिजी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २६५

किया और अपने मार्ग को मध्यम मार्ग कहा। जबकि भगवान् महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को अपेक्षाकृत रूप से स्वीकृत करके एक विधि-मार्ग अपनाया। भगवान् बुद्ध की परम्परा में विकसित शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित स्याद्वाद दोनों का ही लक्ष्य एकान्तिक दार्शनिक विचारधाराओं की अस्वीकृति ही था। दोनों में फर्क इतना ही है कि जहां शून्यवाद एक निषेधप्रधान दृष्टि है वहीं स्याद्वाद में एक विधायक दृष्टि है। शून्यवाद जो बात संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में कहता है, वही बात जैन दार्शनिक व्यवहार और निश्चय नय के आधार पर प्रतिपादित करता है। शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद अपने निष्कर्षों के सम्बन्ध में है। शून्यवाद अपने निष्कर्षों में निषेधात्मक है और स्याद्वाद्व विधानात्मक है। शून्यवाद अपनी सम्पूर्ण तार्किक विवेचना में इस निष्कर्ष पर आता है कि वस्तुतत्त्व शाश्वत नहीं है, उच्छिन्न नहीं है, एक नहीं है, अनेक नहीं है, सत् नहीं है, असत् नहीं है। जबकि स्याद्वाद अपने निष्कर्षों को विधानात्मक रूप से प्रस्तुत करता है कि वस्तु-शाश्वत भी है, अशाश्वत भी है, एक भी है, अनेक भी है, सत् भी है, असत् भी है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं। इस एकान्त के दोष से बचने की तत्परता में शून्यवाद द्वारा प्रस्तुत शून्यता-शून्यता को धारणा और स्याद्वाद द्वारा प्रस्तुत अनेकान्त की अनेकान्तता की धारणा भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस दोष के भय से एकान्त को अस्वीकार करता है, वहीं स्याद्वादी, उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस सदोष एकान्त को निर्दोष बना देता है। दोनों में यदि कोई मौलिक भेद है तो वह अपनी निषेधात्मक और विषेधात्मक दृष्टियों का ही है। शून्यवाद का वस्तुतत्त्व जहाँ चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य है, वहीं जैन दर्शन का वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। किन्तु शून्य और अनन्त का गणित तो एक ही है। इन दोनों की विभिन्नता तो उस दृष्टि का ही परिणाम है, जो कि वैचारिक आग्रहों से जनमानस को मुक्त करने के लिए बुद्ध और महावीर ने प्रस्तुत की थी। बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण का परिणाम शून्यवाद था तो महावीर के विधानात्मक दृष्टिकोण का परिणाम स्याद्वाद। इस सम्बन्ध में आदरणीय दलसुखभाई का लेख 'शून्यवाद और स्याद्वाद' विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

**सप्तभंगी**

सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करती है। हमारी भाषा विधि-निषेध की सीमाओं से घिरी हुई है। "है" और "नहीं है" हमारे कथनों के दो प्रारूप हैं। किन्तु कभी-कभी हम अपनी बात को स्पष्टतया "है" (विधि) और "नहीं है" (निषेध) की भाषा में प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं। अर्थात् सीमित शब्दावली की यह भाषा हमारी अनुभूति को प्रगट करने में असमर्थ होती है। ऐसी स्थिति में हम एक तीसरे विकल्प "अवाच्य" या "अवक्तव्य" का सहारा लेते हैं; अर्थात् शब्दों के माध्यम से "है" और "नहीं है" की भाषायी सीमा में बाँध कर उसे कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार विधि, निषेध और अवक्तव्यता से जो सात प्रकार का वचन विन्यास बनता है, उसे सप्तभंगी कहा जाता है।[1] सप्तभंगी में स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अवक्तव्य ये तीन असंयोगी मौलिक भंग हैं। शेष चार भंग इन तीनों के संयोग से बनते हैं। उनमें स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य और स्यात् नास्ति-अवक्तव्य ये तीन द्विसंयोगी और अन्तिम स्यात्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य, यह त्रिसंयोगी भंग है। निर्णयों की भाषायी अभिव्यक्ति विधि, निषेध और अवक्तव्य, इन तीन ही रूप में होती है। अतः उससे तीन ही मौलिक भंग बनते हैं और इन तीन मौलिक भंगों में से गणितशास्त्र के संयोग नियम (Law of Combination) के आधार पर सात भंग ही बनते हैं, न कम न अधिक। अष्टसहस्री टीका में आचार्य विद्यानन्दि ने इसीलिए यह कहा है कि जिज्ञासा और संशय और उनके समाधान सप्त प्रकार के ही हो सकते हैं। अतः जैन आचार्यों की सप्तभंगी की यह व्यवस्था निर्मूल नहीं है। वस्तुतत्त्व के अनन्त धर्मों में से प्रत्येक को लेकर एक-एक सप्तभंगी और इस प्रकार अनन्त सप्तभंगियाँ तो बनाई जा सकती हैं किन्तु अनन्तभंगी नहीं। श्वेताम्बर आगम भगवतीसूत्र में षट्प्रदेशी स्कन्ध के संबंध में जो २३ भंगों की

---

१. (अ) सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभंगीतीगीयते।

—स्याद्वादमंजरी कारिका २३ की टीका।

(ब) प्रश्नवशात् एकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।

—राजवार्तिक १-६।

योजना है, वह वचन भेद कृत संख्याओं के कारण है। उसमें भी मूल भंग सात ही हैं।[१] पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि प्राचीन दिगम्बर आगम ग्रन्थों में और शेष परवर्ती साहित्य में सप्तभंग ही मान्य रहे हैं। अतः विद्वानों को इन भ्रमों का निवारण कर लेना चाहिये कि ऐसे संयोगों से सप्तभंगी ही क्यों अनन्त भंगी भी हो सकतीं हैं अथवा आगमों में सात भंग नहीं हैं। सप्तभंगी भी एक परवर्ती विकास है।

सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक निर्णय प्रस्तुत करता है। सप्तभंगी में स्यात् अस्ति आदि जो सात भंग हैं, वे कथन के तार्किक आकार (Logical forms) मात्र हैं। उसमें स्यात् शब्द कथन की सापेक्षिकता का सूचक है और अस्ति एवं नास्ति कथन के विधानात्मक (Affirmative) और निषेधात्मक (Negative) होने के सूचक हैं। कुछ जैन विद्वान अस्ति को सत्ता की भावात्मकता का और नास्ति को अभावात्मकता का सूचक मानते हैं किन्तु यह दृष्टिकोण जैन दर्शन को मान्य नहीं हो सकता– उदाहरण के लिए जैन दर्शन में आत्मा भाव रूप है वह अभाव रूप नहीं हो सकता है। अतः हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति अपने आपमें कोई कथन नहीं है, अपितु कथन के तार्किक आकार हैं, वे कथन के प्रारूप हैं। उन प्रारूपों के लिए अपेक्षा तथा उद्देश्य और विधेय पदों का उल्लेख आवश्यक है। जैसे स्याद् अस्ति भंग का ठोस उदाहरण होगा—द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है। यदि हम इसमें अपेक्षा (द्रव्यता) और विधेय (नित्यता) का उल्लेख नहीं करें और कहें कि स्याद् आत्मा है, तो हमारा कथन भ्रम पूर्ण होगा। अपेक्षा और विधेय पद के उल्लेख के अभाव में सप्तभंगी के आधार पर किये गये कथन अनेक भ्रान्तियों को जन्म देते हैं, जिसका विशेष विवेचन हमने द्वितीय भंग की चर्चा के प्रसंग में किया है। आधुनिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक कथन है जिसे एक हेतुफलाश्रित वाक्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सप्तभंगी के प्रसंग में उत्पन्न भ्रान्तियों से बचने के लिए उसे निम्न सांकेतिक रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

---

१. देखें–जैन दर्शन—डॉ. मोहनलाल मेहता पृ. ३००-३०७।

सप्तभंगी के इस सांकेतिक प्रारूप के निर्माण में हमने चिह्नों का प्रयोग उनके सामने दर्शित अर्थों में किया है :—

| चिह्न | अर्थ |
|---|---|
| $\supset$ | यदि—तो(हेतुफलाश्रित कथन) |
| अ | अपेक्षा (दृष्टिकोण) |
| . | संयोजन (और) |
| य | युगपत् (एकसाथ) |
| $\infty$ | अनन्तत्व |
| $\sim$ | व्याघातक |
| उ | उद्देश्य |
| वि | विधेय |

| भंगों के आगमिक रूप | भंगों के सांकेतिक रूप | ठोस उदाहरण |
|---|---|---|
| स्यात् अस्ति | अ$^{1}$ $\supset$ उ वि है | यदि द्रव्यकी अपेक्षासे विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है। |
| स्यात् नास्ति | अ$^{2}$ $\supset$ उ वि नहीं है | यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है। |
| स्यात् अस्ति नास्ति च | { अ$^{1}$ $\supset$ उ वि है. अ$^{2}$ $\supset$ उ वि नहीं है | यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है। |
| स्यात् अवक्तव्य | { (अ$^{1}$·अ$^{2}$)$^{य}$ $\supset$ उ अवक्तव्य है | यदि द्रव्य और पर्याय दोनों ही अपेक्षा से एक साथ विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है। (क्योंकि दो भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दो अलग-अलग कथन हो सकते हैं किन्तु एक कथन नहीं हो सकता)। |

| | | |
|---|---|---|
| स्याद् अस्तिच अवक्तव्यच | $\left\{\begin{array}{l} अ^1 \supset उ\ वि\ है. \\ (अ^1 \cdot अ^2)^{य}\ उ) \\ अवक्तव्य\ है \end{array}\right.$<br>अथवा<br>$अ^1 \supset उ$ वि है.<br>$(अ\infty)^{य} \supset उ$<br>अवक्तव्य है | यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है किन्तु यदि आत्मा की द्रव्य पर्याय दोनों या अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है। |
| स्याद् नास्तिच अवक्तव्य च | $\left\{\begin{array}{l} अ^2 \supset उ\ वि\ नहीं\ है. \\ (अ^1 \cdot अ^2)^{य} \supset उ \\ अवक्तव्य\ है \end{array}\right.$<br>अथवा<br>$\left\{\begin{array}{l} अ^2 \supset उ\ वि\ नहीं\ है. \\ (अ\infty)^{य} \supset उ\ अवक्तव्य\ है \end{array}\right.$ | यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि अनन्त अपेक्षा की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है। |
| स्याद् अस्तिच, नास्ति च अवक्तव्यच | $\left\{\begin{array}{l} अ^1 \supset उ\ वि\ है. \\ अ^2 \supset उ\ वि\ नहीं\ है. \\ (अ\infty)^{य} \supset उ\ अवक्तव्य\ है \end{array}\right.$<br>अथवा<br>$\left\{\begin{array}{l} अ^1 \supset उ\ वि\ है. \\ अ^2 \supset उ\ वि\ नहीं\ है. \end{array}\right.$<br>$(अ^1 \cdot अ^2)^{य} \supset उ$ अवक्तव्य है | यदि द्रव्य दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि अपनी अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है। |

सप्तभंगी के प्रस्तुत सांकेतिक रूप में हमने केवल दो अपेक्षाओं का उल्लेख किया है किन्तु जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव ऐसी चार अपेक्षाएँ मानी हैं, उसमें भी भाव-अपेक्षा व्यापक है उसमें वस्तु की अवस्थाओं ( पर्यायों ) एवं गुणों दोनों पर विचार किया जाता है। किन्तु यदि हम प्रत्येक अपेक्षा की संभावनाओं पर विचार करें तो ये अपेक्षाएँ भी अनन्त होंगी क्योंकि वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। अपेक्षाओं की इन विविध सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार किया जा सकता है किन्तु इस छोटे से लेख में यह सम्भव नहीं है।

इस सप्तभंगी का प्रथम भंग "स्यात् अस्ति" है। यह स्वचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु के भावात्मक धर्म या धर्मों का विधान करता है। जैसे अपने द्रव्य की अपेक्षा से यह घड़ा मिट्टी का है, क्षेत्र की अपेक्षा से इन्दौर नगर में बना हुआ है, काल की अपेक्षा से शिशिर ऋतु का बना हुआ है, भाव अर्थात् वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से लाल रंग का है या घटाकार है आदि। इस प्रकार वस्तु के स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से उसके भावात्मक गुणों का विधान करना यह प्रथम 'अस्ति' नामक भंग का कार्य है। दूसरा स्यात्, "नास्ति" नामक भंग वस्तुतत्त्व के अभावात्मक धर्म या धर्मों की अनुपस्थिति या नास्तित्व की सूचना देता है। वह यह बताता है कि वस्तु में स्व से भिन्न पर-चतुष्टय का अभाव है। जैसे यह घड़ा ताम्बे का नहीं है, भोपाल नगर से बना हुआ नहीं है, ग्रीष्म ऋतु का बना हुआ नहीं है, कृष्ण वर्ण का नहीं है आदि। मात्र इतना ही नहीं यह भंग इस बात को भी स्पष्ट करता है कि घड़ा, पुस्तक, टेबल, कलम, मनुष्य आदि नहीं है। जहाँ प्रथम भंग यह कहता है कि घड़ा घड़ा ही है, वहाँ दूसरा भंग यह बताता है कि घड़ा, घट इतर अन्य कुछ नहीं है। कहा गया है कि "सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च" अर्थात् सभी वस्तुओं की सत्ता स्वरूप से है पररूप से नहीं। यदि वस्तु में अन्य वस्तुओं के गुण धर्मों की सत्ता भी मान ली जायेगी तो फिर वस्तुओं का पारस्परिक भेद ही समाप्त हो जावेगा और वस्तु का स्व-स्वरूप ही नहीं रह जावेगा, अतः वस्तु में पर-चतुष्टय का निषेध करना द्वितीय भंग है। प्रथम भंग बताता है कि वस्तु क्या है, जबकि दूसरा भंग यह बताता है कि वस्तु क्या नहीं है। सामान्यतया इस द्वितीय भंग को "स्यात् नास्ति घटः" अर्थात् किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है, इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है,

किन्तु इसके प्रस्तुतीकरण का यह ढंग थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है, स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रथम भंग में घट के अस्तित्व का जो विधान किया गया था, उसी का द्वितीय भंग में निषेध कर दिया गया है और ऐसी स्थिति में स्याद्वाद को सन्देहवाद या आत्मा विरोधी कथन करने वाला सिद्धान्त समझ लेने की भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। शंकर प्रभृति विद्वानों ने स्याद्वाद की जो आलोचना की थी, उसका मुख्य आधार यही भ्रान्ति है। 'स्यात् अस्ति घटः' और 'स्यात् नास्ति घटः' में जब स्यात् शब्द को दृष्टि से ओझल कर या उसे सम्भावना के अर्थ में ग्रहण कर 'अस्ति' और 'नास्ति' पर बल दिया जाता है तो आत्म-विरोध का आभास होने लगता है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ स्याद्वाद का प्रतिपादन करने वाले किसी आचार्य की दृष्टि में द्वितीय भंग का कार्य प्रथम भंग में स्थापित किये गये गुणधर्म का उसी अपेक्षा से निषेध करना नहीं है, अपितु या तो प्रथम भंग में अस्ति रूप माने गये गुण धर्म से इतर गुण धर्मों का निषेध करना है अथवा फिर अपेक्षा को बदल कर उसी गुण धर्म का निषेध करना होता है और इस प्रकार द्वितीय भंग प्रथम भंग के कथन को पुष्ट करता है, खण्डित नहीं। यदि द्वितीय भंग के कथन को उसी अपेक्षा से प्रथम भंग का निषेधक या विरोधी मान लिया जावेगा तो निश्चय यह सिद्धान्त संशयवाद या आत्म विरोध के दोषों से ग्रसित हो जावेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि प्रथम भंग में 'स्यादस्त्येव घटः' का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा है और द्वितीय भंग में "स्यान्नास्त्येव घटः" का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है ऐसा करेंगे तो आभासी रूप से ऐसा लगेगा कि दोनों कथन विरोधी हैं। क्योंकि इन कथनों के भाषायी स्वरूप से ऐसा आभास होता है कि इन कथनों में घट के अस्तित्व और नास्तित्व को ही सूचित किया गया है। जबकि जैन आचार्यों की दृष्टि में इन कथनों का बल उनमें प्रयुक्त "स्यात्" शब्द में ही है, वे यह नहीं मानते हैं कि द्वितीय भंग प्रथम भंग में स्थापित सत्य का प्रतिपेध करता है। दोनों भंगों में घट के सम्बन्ध में जिनका विधान या निषेध किया गया है वे अपेक्षाश्रित धर्म हैं न कि घट का स्वयं का अस्तित्व या नास्तित्व। पुनः दोनों भंगों के "अपेक्षाश्रित धर्म" एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम भंग में जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का निषेध हुआ है, वे दूसरे अर्थात् पर-चतुष्टय के हैं। अतः प्रथम भंग के विधान और द्वितीय भंग के निषेध में कोई आत्म-

विरोध नहीं है। मेरी दृष्टि में इस भ्रान्ति का मूल कारण प्रस्तुत वाक्य में उस विधेय पद ( Predicate ) के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, जिसका कि विधान या निषेध किया जाता है। यदि "नास्ति" पद को विधेय स्थानीय माना जाता है तो पुनः यहाँ यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जो घट अस्ति रूप है, वह नास्ति रूप कैसे हो सकता है ? यदि यह कहा जावे कि पर द्रव्यादि की अपेक्षा से घट नहीं है, किन्तु पर द्रव्यादि घट के अस्तित्व के निषेधक कैसे बन सकते हैं ?

यद्यपि यहाँ पूर्वाचार्यों का मन्तव्य स्पष्ट है कि वे घट का नहीं, अपितु घट में पर द्रव्यादि का भी निषेध करना चाहते हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि घट पट नहीं है या घट में पट आदि के धर्म नहीं हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इस कथन में प्रथम और द्वितीय भंग में अपेक्षा नहीं बदली है। यदि प्रथम भंग से यह कहा जावे कि घड़ा मिट्टी का है और दूसरे भंग में यह कहा जावे कि घड़ा पीतल का नहीं है तो दोनों में अपेक्षा एक ही है अर्थात् दोनों कथन द्रव्य की या उपादान की अपेक्षा से हैं। अब दूसरा उदाहरण लें। किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य है, किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य नहीं है, यहाँ दोनों भंगों में अपेक्षा बदल जाती है। यहाँ प्रथम भंग में द्रव्य की अपेक्षा से घड़े को नित्य कहा गया और दूसरे भंग में पर्याय की अपेक्षा से घड़े को नित्य नहीं कहा गया है। द्वितीय भंग के प्रतिपादन के ये दोनों रूप भिन्न-भिन्न हैं। दूसरे यह कहना कि परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है या पट की अपेक्षा घट नहीं है, भाषा की दृष्टि से थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है क्योंकि परचतुष्टय वस्तु की सत्ताका निषेधक नहीं हो सकता है। वस्तु में परचतुष्टय अर्थात् स्व-भिन्न पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव तो होता है किन्तु उनकी अपेक्षा वस्तु का अभाव नहीं होता है। क्या यह कहना कि कुर्सी की अपेक्षा टेबल नहीं है या पीतल की अपेक्षा यह घड़ा नहीं है, भाषा के अभ्रान्त प्रयोग हैं ? इस कथन में जैनाचार्यों का आशय तो यही है कि टेबल कुर्सी नहीं है या घड़ा पीतल का नहीं है। अतः परचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु नहीं है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना कि वस्तु में परचतुष्टय का अभाव है, भाषा का सम्यक् प्रयोग होगा। विद्वानों से मेरी विनती है कि वे सप्तभंगी के विशेष रूप से द्वितीय एवं तृतीय भंग के भाषा के स्वरूप पर और स्वयं उनके आकारिक स्वरूप पर पुनर्विचार करें और आधुनिक तर्कशास्त्रके सन्दर्भ में

उसे पुनर्गठित करें तो जैन न्याय के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि होगी क्योंकि द्वितीय एवं तृतीय भंगों की कथन विधि के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। अतः यहाँ द्वितीय भंग के विविध स्वरूपों पर थोड़ा विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। मेरी दृष्टि में द्वितीय भंग के निम्न चार रूप हो सकते हैं :

| **सांकेतिक रूप** | **उदाहरण** |
| --- | --- |
| (1) प्रथम भंग—अ$^{1}$ ⊃ उ वि है<br>द्वितीय भंग—अ$^{2}$ ⊃ उ नहीं है | (1) प्रथम भंग में जिस धर्म (विधेय) का विधान किया गया है। अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंगमें उसी धर्म ( विधेय ) का निषेध कर देना। जैसे : **द्रव्यदृष्टि** से घड़ा नित्य है। **पर्यायदृष्टि** से घड़ा नित्य नहीं है। |
| (2) प्रथम भंग—अ$^{1}$ ⊃ उ वि है<br>द्वितीय भंग—अ$^{2}$ ⊃ ऊ~वि है | (2) प्रथम भंग में जिस धर्म का विधान किया गया है, अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म का प्रतिपादन कर देना है। जैसे—**द्रव्यदृष्टि** से घड़ा नित्य है **पर्यायदृष्टि** से घड़ा अनित्य है। |
| (3) प्रथम भंग—अ$^{1}$ ⊃ उ वि है<br>द्वितीय भंग-अ$^{2}$ ⊃ उ~वि नही है | (3) प्रथम भंग में प्रतिपादित धर्म को पुष्ट करने हेतु उसी अपेक्षा से द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म या भिन्न धर्म का वस्तु में निषेध कर देना।<br>जैसे—**रंग की दृष्टि** से यह कमीज नीली **है।**<br>**रंग की दृष्टि** से यह कमीज पीली **नहीं है।** |

अथवा

अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में चेतन है।

अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा अचेतन **नहीं है।**

अथवा

उपादान की दृष्टि से यह घड़ा मिट्टी का **है।**

उपादान की दृष्टि से यह घड़ा स्वर्ण का **नहीं है।**

(4) प्रथम भंग—अ$^1 \supset$ उ है
द्वितीय भंग—अ$^2 \supset$ उ नहीं है

(4) जब प्रतिपादित कथन देश या काल या दोनों के सम्बन्ध में हो तब देश-काल आदि की अपेक्षा को बदलकर प्रथम भंग में प्रतिपादित कथन का निषेध कर देना।

जैसे—27 नवम्बर की अपेक्षा से मैं यहाँ पर **हूँ।**

20 नवम्बर की अपेक्षा से मैं यहाँ पर **नहीं था।**

द्वितीय भंग के उपरोक्त चारों रूपों में प्रथम और द्वितीय रूप में बहुत अधिक मौलिक भेद नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जहाँ प्रथम रूप में एक ही धर्म का प्रथम भंग में विधान और दूसरे भंग में निषेध होता है, वहाँ दूसरे रूप में दोनों भंगों में अलग-अलग रूप में दो विरुद्ध धर्मों का विधान होता है। प्रथम रूप की आवश्यकता तब होती है जब वस्तु में एक ही गुण अपेक्षा भेद से कभी उपस्थित रहे और कभी उपस्थित नहीं रहे। इस रूप के लिए वस्तु में दो विरुद्ध धर्मों के युगल का होना जरूरी नहीं है, जबकि दूसरे रूप का प्रस्तुतीकरण केवल उसी स्थिति में सम्भव होता है, जबकि वस्तु में धर्म विरुद्ध युगल हो। तीसरा रूप तब बनता है, जबकि

उस वस्तु में प्रतिपादित धर्म के विरुद्ध धर्म की उपस्थिति ही न हो। चतुर्थ रूप की आवश्यकता तब होती है, जब कि हमारे प्रतिपादन में विधेय का स्पष्ट रूप से उल्लेख न हो। द्वितीय भंग के पूर्वोक्त रूपों में प्रथम रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) वही रहता है और क्रिया पद निषेधात्मक होता है। द्वितीय रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध धर्म (विधेय का व्याघातक पद) होता है और क्रियापद विधानात्मक होता है। तृतीय रूप से अपेक्षा वही रहती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध या विपरीत पद रखा जाता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है तथा अन्तिम चतुर्थ रूप में अपेक्षा बदलती है और प्रतिपादित कथन का निषेध कर दिया जाता है।

सप्तभंगी का तीसरा मौलिक भंग अवक्तव्य है अतः यह विचारणीय है कि इस भंग की योजना का उद्देश्य क्या है? सामान्यतया यह माना जाता है कि वस्तु में एक ही समय में रहते हुए सत्-असत्, नित्य अनित्य आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् अर्थात् एक साथ प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः विरुद्ध धर्मों की एक साथ अभिव्यक्ति की शाब्दिक असमर्थता के कारण अवक्तव्य भंग की योजना की गई है, किन्तु अवक्तव्य का यह अर्थ उसका एकमात्र अर्थ नहीं है। यदि हम अवक्तव्य शब्द पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं तो उसके अर्थ में एक विकास देखा जाता है। डॉ० पद्मराजे ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है—

(१) पहला वेदकालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण, जिसमें विश्व कारण की खोज करते हुए ऋषि उस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है, यहाँ दोनों पक्षों का निषेध है।

(२) दूसरा औपनिषदिक विधानात्मक दृष्टिकोण, जिसमें सत्, असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है। जैसे—"तदेजति तन्नेजति" अणोरणीयान् महतो महीयान आदि। यहाँ दोनों पक्षों की स्वीकृति है।

(३) तीसरा दृष्टिकोण जिसमें तत्त्व को स्वरूपतः अव्यपदेश्य या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है उसे "यतो वाचो निवर्तन्ते", यद्वाचानभ्युदितं, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्योः आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद

की चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व की धारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।

(४) चौथा दृष्टिकोण जैन न्याय में सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं—

(१) सत् व असत् दोनों का निषेध करना।

(२) सत्, असत् और सदसत् तीनों का निषेध करना।

(३) सत्, असत्, सत्-असत् (उभय) और न सत् न असत् (अनुभय) चारों का निषेध करना।

(४) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य मानना, अर्थात् यह कि वस्तु-तत्त्व अनुभव में तो आ सकता है किन्तु कहा नहीं जा सकता।

(५) सत् और असत् दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।

(६) वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं, उतने वाचक शब्द नहीं हैं। अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन विचार परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया जैन परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और असत् दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है; किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का यह अर्थ अन्तिम नहीं कहा जा सकता। आचारांगसूत्र में आत्मा के स्वरूप को जिस रूप में वचनागोचर कहा गया है वह विचारणीय है। वहाँ कहा गया है कि "आत्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं

समझाया जा सकता है क्योंकि उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्तावान है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।"[१] इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुनः वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता और शब्दसंख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तु-तत्त्व को अवक्तव्य माना गया है। आचार्य नेमीचन्द्र ने गोम्मटसार में अनभिलाप्य भाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आये अवक्तव्य भावों का अनन्तवाँ भाग ही कथन किया जाने योग्य है।[२] अतः यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परम्परा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें और छठें अर्थ मान्य रहे हैं। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अव्यक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय भी है। सत्ता अंशतः निर्वचनीय है और अंशतः अनिर्वचनीय। क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट पाँच अर्थों में से पहले दो को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है। मेरी दृष्टि में अवक्तव्य भंग का भी एक ही रूप नहीं है, प्रथम तो "है" और "नही है" ऐसे विधि-

---

१. सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ
मई तत्थ न गहिया''''उवमा न विज्जई
अपयस्य पयं नत्थि। आचारांग १-५-१७१

२. पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पानं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदनिबद्धो॥ गोम्मटसार, जीव ३३४।

प्रतिषेध का युगपद् ( एक ही साथ ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है, अतः अवक्तव्य भंग की योजना है। दूसरे निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन सम्भव नहीं है, अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे अपेक्षाएँ अनन्त हो सकती हैं किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन संभव नहीं है इसलिए भी उसे अवक्तव्य मानना होगा। इसके निम्न तीन प्रारूप हैं—

(1) $(\text{अ}^{1} . \text{अ}^{2}) \overset{\text{य}}{\supset} \text{उ}$ अवक्तव्य है,

(2) $\sim \text{अ} \supset \text{उ}$ अवक्तव्य है,

(3) $(\text{अ}\infty) \overset{\text{य}}{\supset} \text{उ}$ अवक्तव्य है।

सप्तभंगी के शेष चारों भंग सायोगिक हैं। विचार की स्पष्ट अभि-व्यक्ति की दृष्टि से इनका महत्त्व तो अवश्य है किन्तु इनका अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं है, ये अपने संयोगी मूलभंगों की अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए ही वस्तुस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं। अतः इन पर यहाँ विस्तृत विचार अपेक्षित नहीं है।

**सप्तभंगी और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र :**

वर्तमान युग में पाश्चात्य तर्कशास्त्र के विचारकों में ल्युसाइविक ने एक नयी दृष्टि दी है, उसके अनुसार तार्किक निर्णयों में केवल सत्य, असत्य ऐसे दो मूल्य ही नहीं होते, अपितु सत्य, असत्य और सम्भावित सत्य ऐसे तीन मूल्य होते हैं। इसी संदर्भ में डॉ० एस० एस० बारलिंगे ने जैन न्याय को त्रिमूल्यात्मक सिद्ध करने का प्रयास जयपुर की एक गोष्ठी में किया था। यद्यपि जहाँ तक जैनन्याय या स्याद्वाद के सिद्धांत का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक माना जा सकता हैं क्योंकि जैन न्याय में प्रमाण, सुनय और दुर्नय ऐसे तीन क्षेत्र माने गये हैं, इसमें प्रमाण सुनिश्चित सत्य, सुनय सम्भावितसत्य और दुर्नय असत्यता के परिचायक हैं। पुनः जैन दार्शनिकों ने प्रमाणवाक्य और नयवाक्य ऐसे दो प्रकार के वाक्य मानकर प्रमाणवाक्य को सकलादेश ( सुनिश्चित सत्य या पूर्ण सत्य ) और नयवाक्य को विकलादेश (सम्भावित सत्य या आंशिक सत्य) कहा है। नयवाक्य को न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य। अतः सत्य

और असत्य के मध्य एक तीसरी कोटि आंशिक सत्य या सम्भावित सत्य मानी जा सकती है। पुनः वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता एवं स्याद्वाद सिद्धांत भी सम्भावित सत्यता के समर्थक हैं क्योंकि वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता अन्य सम्भावनाओं को निरस्त नहीं करती है और स्याद्वाद उस कथित सत्यता के अतिरिक्त अन्य सम्भावित सत्यताओं को स्वीकार करता है।

इस प्रकार जैन दर्शन की वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता तथा प्रमाण, नय और दुर्नय की धारणाओं के आधार पर स्याद्वाद सिद्धांत त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (Three valued logic) या बहुमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (Many valued logic) का समर्थक माना जा सकता है किन्तु जहां तक सप्तभंगी का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें नास्ति नामक भंग एवं अवक्तव्य नामक भंग क्रमशः असत्य एवं अनियतता (Indeterminate) के सूचक नहीं हैं। सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सत्य-मूल्य का सूचक है यद्यपि जैन विचारकों ने प्रमाण-सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी के रूप में सप्तभंगी के जो दो रूप माने हैं, उसके आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि प्रमाण-सप्तभंगी के सभी भंग सुनिश्चित सत्यता और नय सप्तभंगी के सभी भंग सम्भावित या आंशिक सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। असत्य का सूचक तो केवल दुर्नय ही है। अतः सप्तभंगी त्रिमूल्यात्मक नहीं है।

किन्तु मेरे शिष्य डॉ भिखारी राम यादव ने अपने प्रस्तुत शोध निबन्ध में अत्यन्त श्रमपूर्वक सप्तभंगी को सप्तमूल्यात्मक सिद्ध किया है और अपने पक्ष के समर्थन में समकालीन पाश्चात्य तर्कशास्त्र से प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। आशा है विद्वज्जन उनके इस प्रयास का सम्यक् मूल्यांकन करेंगे। आज मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि कि मेरे ही शिष्य ने चिन्तन के क्षेत्र में मुझसे एक कदम आगे रखा है। हम गुरु-शिष्य में कौन सत्य है या असत्य है यह विवाद हो सकता है यह निर्णय तो पाठकों को करना है; किन्तु अनेकान्त शैली में अपेक्षाभेद से दोनों भी सत्य हो सकते है। वैसे शास्त्रकारों ने कहा है कि शिष्य से पराजय गुरु के लिए परम आनन्द का विषय होता है क्योंकि वह उसके जीवन की सार्थकता का अवसर है।

**स्याद्वाद का लक्ष्य—एक समन्वयात्मक दृष्टि का विकास :**

**(अ) दार्शनिक विचारों के समन्वय का आधार स्याद्वाद :**

भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भारत में वैचारिक संघर्ष और दार्शनिक विवाद अपने चरम सीमा पर था। जैन आगमों के अनुसार उस समय ३६३ और बौद्ध आगमों के अनुसार ६२ दार्शनिक मत प्रचलित थे। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, जो लोगों को आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए दिशा निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद पराङ्मुखता को अपनाया। सुत्तनिपात में वे कहते है कि मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक तो वह अपूर्ण व एकांगी होता है और दूसरे कलह एवं अशान्ति का कारण होता है। अतः निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाला साधक विवाद में न पड़े।[1] बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित सभा पर विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों को सदोष बताया और इस प्रकार अपने को किसी भी दार्शनिक मान्यता के साथ नहीं बाँधा। वे कहते है कि पंडित किसी दृष्टि या वाद में नहीं पड़ता।[2] बुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक वादविवाद निर्वाण मार्ग के साधक के कार्य नहीं हैं। अनासक्त मुक्त पुरुष के पास विवाद रूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता।[3] इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी आग्रह को साधना का सम्यक् पथ नहीं समझा। उन्होंने भी कहा कि आग्रह, मतान्धता या एकांगी दृष्टि उचित नहीं है जो व्यक्ति अपने मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने में ही पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार चक्र में घूमते रहते हैं।[4] इस प्रकार भगवान् महावीर व बुद्ध दोनों ही उस युग की आग्रह वृत्ति एवं मतान्धता से जन मानस को मुक्त करना चाहते थे फिर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में थोड़ा अन्तर था। जहाँ

---

१. सुत्तनिपात ५१-२१.
२. सुत्तनिपात ५१-३.
३. सुत्तनिपात्त ४६-८-९.
४. सयं सयं पसंसंता गरहन्ता परं वयं।
जे उतत्थ विउस्सयन्ति संसारेते विउस्सिया—सूत्रकृतांग १-१-२-२३।

बुद्ध इन विवादों से बचने की सलाह दे रहे थे, वहीं महावीर इनके समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत कर रहे थे, जिसका परिणाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद विविध दार्शनिक एकान्तवादों में समन्वय करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि में नित्यवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, भेदवाद-अभेदवाद आदि सभी वस्तु स्वरूप के आंशिक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। यदि इनको कोई असत्य बनाता है तो वह आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने का उनका आग्रह ही है। स्याद्वाद अपेक्षा भेद में इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य तभी असत्य बन जाता है, जबकि हम आग्रही दृष्टि से उसे देखते हैं। यदि हमारी दृष्टि अपने को आग्रह के ऊपर उठाकर देखे तो हमें सत्य का दर्शन हो सकता है। सत्य का सच्चा प्रकाश केवल अनाग्रही को ही मिल सकता है। महावीर के प्रथम शिष्य गौतम का जीवन स्वयं इसका एक प्रत्यक्ष साक्ष्य है। गौतम के केवल ज्ञान में आखिर कौन सा तत्त्व बाधक बन रहा था। महावीर ने स्वयं इसका समाधान करते हुए गौतम से कहा था—हे गौतम मेरा तेरे प्रति जो ममत्व है यही तेरे केवल ज्ञान ( सत्य दर्शन ) का बाधक है। महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में रहकर नहीं किया सकता। आग्रह बुद्धि या दृष्टि राग सत्य को असत्य बना देता है। सत्य का प्रगटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है, विरोध में नहीं, समन्वय में होता है। सत्य का साधक अनाग्रही और वीतराग होता है, उपाध्याय यशोविजयजी स्याद्वाद की इसी अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अध्यात्मसार में लिखते हैं—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु, तनयेष्विव,
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकेशुसवो।
तेन स्याद्वाद्मालव्य सर्वदर्शन तुल्यता।
मोक्षोदेश विशेषणा यः पश्यति सः शास्त्रवित् ॥
मध्यस्थमेव शास्त्रार्थो ये तच्चारु सिद्धयति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्बालिश वल्गनम् ॥

माध्यस्थ सहितं ह्येक पदज्ञानमपि प्रभा।
शास्त्रकोटि वृथैवान्या तथा चौबल महात्मना॥

—अध्यात्मसार, ६९-७३

सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोण (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्र को, क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी तो वही है, जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के पद का ज्ञान भी सफल है अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है। क्योंकि जहाँ आग्रह बुद्धि होती है वहाँ विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन संभव नहीं होता। वस्तुतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, हेतुवाद, अहेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद, आदि जितने भी दार्शनिक मत-मतान्तर हैं, वे सभी परम सत्ता के विभिन्न पहलुओं से लिये गये चित्र हैं और आपेक्षिक रूप से सत्य हैं द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय किया जा सकता है। अतः एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है, वह सभी दर्शनों का आराधक होता है। परमयोगी आनन्दघनजी लिखते हैं—

षट् दरसण जिन अंग मणी जे, न्याय षडंग जो सावे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षटदर्शन आराधे रे॥ १॥

जिन सुर पादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करता, लही दुय अंग असेदे रे॥ २॥

भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनपर दोय कर भारी रे।
लोकालोक अवलंबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे॥ ३॥

लोकायतिक सुख कूख जिनवरकी, अंश विचार जो कीजे।
तत्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे॥ ४॥

जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे॥ ५॥

**(ब) राजनैतिक क्षेत्र में स्याद्वाद के सिद्धांत का उपयोग :**

अनेकान्त का सिद्धान्त न केवल दार्शनिक अपितु राजनैतिक विवाद भी हल करता है। आज का राजनैतिक जगत भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आज अनेक राजनैतिक विचारधाराएँ तथा राजतन्त्र, कुलतन्त्र, अधिनायक तन्त्र, आदि अनेकानेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं उनमें से प्रत्येक एक दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनैतिक संघर्ष आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का संघर्ष है। आज अमेरिका और रूस अपनी वेचारिक प्रभुसत्ता के प्रभाव को बढ़ाने के लिये ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एक दूसरे को नाम-शेष करने की उनकी यह महत्वाकांक्षा कहीं मानव जाति को ही नाम शेष न कर दे।

आज के राजनैतिक जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक फलित वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय हैं। मानव जाति ने राजनैतिक जगत में, राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है उसकी सार्थकता स्याद्वाद दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है, इस विचार-दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्जवल रह सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र ( पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी ) वस्तुतः राजनैतिक स्याद्वाद है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथा सम्भव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहाँ भारत स्याद्वाद का सर्जक है, वहीं वह राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजा-तन्त्र का समर्थक भी है। अतः आज स्याद्वाद सिद्धान्त को व्यावहारिक

क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है। इसी प्रकार हमें यह भी समझना है कि राज्य-व्यवस्था का मूल लक्ष्य जन-कल्याण है। अतः जन कल्याण को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य एक सांग संतुलन स्थापित करना है। आवश्यकता सैद्धांतिक विवादों की नहीं अपितु जनहित से संरक्षण एवं मानव की पाशविक वृत्तियों के नियन्त्रण की है।

**(स) अनेकांत धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में :**

सभी धर्म साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता है, तो बौद्ध धर्म की साधना लक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है। वही वेदान्त में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या एकांत या आग्रह वैचारिकराग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं के ही रूप नहीं हैं और जब तक वे उपस्थित हैं धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी ? जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म का अविभाव मानव जाति में शांति और सहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था लेकिन आज वही धर्म मनुष्य-मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है धार्मिक मतान्धता में हिंसा संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार क्या नहीं हो रहा है ? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है ? इसका उत्तर निश्चित रूप से "हाँ" में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में "धर्म" नहीं किन्तु धर्म का आवरण डाल कर मानव की महत्वाकांक्षा, उसका अहंकार ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म नहीं, धर्म का नकाब डाले अधर्म है।

मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अनेकांतिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी। साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जबकि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है, समत्व लाभ ( समाधि ) अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति की स्थापना तथा उसके लिए विक्षोभ के जनक राग-द्वेष और अस्मिता ( अहंकार ) का निराकरण। लेकिन राग-द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्या हों ? यहीं विचार भेद प्रारम्भ होता है, लेकिन यह विचार भेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खिची हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है किन्तु वह यथार्थ में होता नहीं है। क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परित्याग करती है वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य सभी एकता में ही साधन रूप धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः यदि धर्मों का साध्य एक है तो उनमें विरोध कैसा ? अनेकान्त, धर्मों की साध्यपरक मूलभूत एकता और साधन परक अनेकता को इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धांतों एवं साधनों के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देशकालगत परिस्थितियों और साधक के साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म साधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी। किन्तु मनुष्य को अपने धर्माचार्य के प्रति ममता ( रागात्मकता ) और उसके अपनेमन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एक मात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रारम्भ हुआ। मुनिश्री नेमीचन्द्रजी ने धर्म सम्प्रदायों के उद्भव की एक सजीव व्याख्या प्रस्तुत की हैं, वे लिखते हैं कि "मनुष्य स्वभाव बड़ा विचित्र है उसके अहं को जरा सी चोट लगते ही वह अपना अखाड़ा अलग बनाने

को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक अहं धर्म-सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है लेकिन वही एक मात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देशकालगत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित परम्पराओं में आयी हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने। उनके अनुसार सम्प्रदाय बनने के निम्न कारण हो सकते हैं :—

(१) ईर्ष्या के कारण (२) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण (३) किसी वैचारिक मतभेद (मताग्रह) के कारण (४) किसी आचार संबंधी नियमोपनियम में भेद के कारण (५) किसी व्यक्ति या पूर्व सम्प्रदाय द्वारा अपमान या खींचातान होने के कारण (६) किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से (७) किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपरोक्त कारणों में अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास का अध्येता इसे भलीभांति जानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये। आश्चर्य तो यह है कि इस दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्त प्लावन को धर्म का बाना पहनाया गया। शान्ति प्रदाता धर्म ही अशांति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनास्था का मुख्य कारण उपरोक्त भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में बाह्य भिन्नता परिलक्षित होती है किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो उसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकांत विचार दृष्टि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है क्योंकि वैयक्तिक रुचि भेद एवं क्षमता भेद तथा देश काल गत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्म एवं विचार सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक नहीं अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का

प्रयास हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है धार्मिक सहिष्णुता और सर्व धर्म समभाव की।

अनेकांत के समर्थक जैनाचार्यों ने इसी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक सहिष्णुता तो सर्व विदित ही है। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद, न्याय दर्शन के ईश्वर कर्तृत्वाद और वेदान्त के सर्वात्मवाद ( ब्रह्मवाद ) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। अपने ग्रन्थ लोकतत्त्वसंग्रह में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं :—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्ति मद्वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः ॥

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष है। जो भी वचन तर्क संगत हो उसे ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्व देव समभाव का परिचय देते हुए कहा था :—

भव वीजांकुर जनना, रागद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरौ, जिनो वा नमस्तस्मै।

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि जिसके क्षय हो चुके हैं उसे, मैं प्रणाम करता हूँ चाहे वे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शिव हों या जिन हों।

**(द) पारिवारिक जीवन में स्याद्वाद दृष्टि का उपयोग**

कौटुम्बिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं— पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव प्रधान होती है, जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा

जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में किया था, जब कि वहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतन्त्र जीवन जिये, जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत श्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टिभेद है, उसे अनेकान्त पद्धति से सम्यक् प्रकार जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें तो हमें स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता-पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है, उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले कि अधिकारी कर्मचारी से किस ढंग से काम लेना चाहता है, उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक ऐसी दृष्टि है, जिसके अभाव में लोक व्यवहार असम्भव है और जिस आधार पर अनेकान्तवाद जगतगुरु होने का दावा करता है। कहा है—

जेण विणा वि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडई।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेकांत एवं स्याद्वाद के सिद्धान्त दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक जीवन के विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं जिससे मानव जाति को संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है। संक्षेप में अनेकान्त विचार-पद्धति के व्यावहारिक क्षेत्र में तीन प्रमुख योगदान हैं—

(१) विवाद पराङ्मुखता या वैचारिक संघर्ष का निराकरण।

(२) वैचारिक सहिष्णुता या वैचारिक अनाग्रह (विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन)।

(३) वैचारिक समन्वय और एक उदार एवं व्यापक दृष्टि का निर्माण।

**बौद्ध आचार-दर्शन में वेचारिक अनाग्रह**

बौद्ध आचारदर्शन में मध्यम मार्ग की धारणा अनेकान्तवाद की विचारसरणी का ही एक रूप है। इसी मध्यम मार्ग से वैचारिक क्षेत्र में अनाग्रह की धारणा का विकास हुआ है। बौद्ध विचारकों ने भी सत्य को अनेक पहलुओं से युक्त देखा और यह माना कि सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना ही विद्वता है। थेरगाथा में कहा गया है कि जो सत्य का एक ही पहलू देखता है, वह मूर्ख है।[1] पण्डित तो सत्य को सौ (अनेक) पहलुओं से देखता है। वैचारिक आग्रह और विवाद का जन्म एकांगी दृष्टिकोण से होता है, एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं और विवाद में उलझते हैं।[2]

बौद्ध विचारधारा के अनुसार आग्रह, पक्ष या एकांगी दृष्टि-राग में रत होता है। वह जगत में कलह और विवाद का सृजन करता है और स्वयं भी आसक्ति के कारण बन्धन में पड़ा रहता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टि, पक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है और न बन्धन में। बुद्ध के निम्न शब्द बड़े मर्मस्पर्शी हैं, "जो अपनी दृष्टि से दृढ़ाग्रही हो दूसरे को मूर्ख और अशुद्ध बतानेवाला वह स्वयं कलह का आह्वान करता है। किसी धारणा पर स्थित हो, उसके द्वारा वह संसार में विवाद उत्पन्न करता है जो सभी धारणाओं को त्याग देता है, वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता।[3]

मैं विवाद के फल बताता हूँ। एक, यह अपूर्ण या एकांगी होता है; दूसरे, वह विग्रह या अशान्ति का कारण होता है। निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाले यह भी देखकर विवाद न करें। साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियाँ हैं, पण्डित इन सब में नहीं पड़ता। दृष्टि और श्रुति को ग्रहण न करने वाला, आसक्तिरहित वह क्या ग्रहण करे। (लोग) अपने

---

१. थेरगाथा, ११०६.

२. उदान, ६।४.

३. सुत्तनिपात, ५०।१६-१७.

धर्म को परिपूर्ण बताते हैं और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं। इस प्रकार भिन्न मत वाले ही विवाद करते हैं और अपनी धारणा को सत्य बताते हैं। यदि कोई दूसरे की अवज्ञा (निन्दा) करके हीन हो जाय तो धर्मों में श्रेष्ठ नहीं होता। जो किसी वाद में आसक्त है, वह शुद्धि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह किसी दृष्टि को मानता है। विवेकी ब्राह्मण तृष्णा-दृष्टि में नहीं पड़ता। वह तृष्णा-दृष्टि का अनुसरण नहीं करता। मुनि इस संसार में ग्रन्थियों को छोड़कर वादियों में पक्षपाती नहीं होता। अशान्तों में शान्त वह जिसे अन्य लोग ग्रहण करते हैं उसकी अपेक्षा करता है। बाद में अनासक्त, दृष्टियों से पूर्ण रूप से मुक्त वह धीर संसार में लिप्त नहीं होता। जो कुछ दृष्टि, श्रुति या विचार है, उन सब पर वह विजयी है। पूर्ण रूप से मुक्त, मार-त्यक्त वह संस्कार, उपरति तथा तृष्णा-रहित है।[1]"

इतना ही नहीं, बुद्ध सदाचरण और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में इस प्रकार के वाद-विवाद या वाग्विलास या आग्रह-वृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह पक्षाग्रह या वाद-विवाद निर्वाण-मार्ग के पथिक का कार्य नहीं है। यह तो मल्लविद्या है—राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह (प्रतिवादी को) ललकारने वाले वादी को उस जैसे वादी के पास भेजना चाहिए, क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रहा। जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और अपने मत को सत्य बताते हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने को यहाँ कोई नहीं है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन वैचारिक अनाग्रह पर जैन दर्शन के समान ही जोर देता है, बुद्ध ने भी महावीर के समान ही दृष्टि-राग को अनुपयुक्त माना है और बताया कि सत्य का सम्पूर्ण प्रकटन वहीं होता है, जहाँ सारी दृष्टियाँ शून्य हो जाती हैं। यह भी एक विचित्र संयोग है कि महावीर के अन्तेवासी इन्द्रभूति के समान ही बुद्ध के अन्तेवासी आनन्द को भी बुद्ध के जीवन काल में अर्हत् पद प्राप्त नहीं हो

१. सुत्तनिपात, ५१।२, ३, १०, ११, १६-२०.

२. वही, ४६।८-९.

सका। सम्भवतः यहाँ भी यही मानना होगा कि शास्ता के प्रति आनन्द का जो दृष्टिराग था, वही उसके अर्हत् होने में बाधा था। इस सम्बन्ध में दोनों धर्मों के निष्कर्ष समान प्रतीत होते है।

**गीता में अनाग्रह**

वैदिक परम्परा में भी अनाग्रह का समुचित महत्त्व और स्थान है। गीता के अनुसार आग्रह की वृत्ति आसुरी वृत्ति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी स्वभाव के लोग दम्भ, मान और मद से युक्त होकर किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय ले अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हो संसार में प्रवृत्ति करते रहते हैं।[1] इतना ही नहीं, आग्रह का प्रत्यय तप, ज्ञान और धारणा सभी को विकृत कर देता है। गीता में आग्रहयुक्त तप को और आग्रहयुक्त धारणा को तामस कहा है।[2] आचार्य शंकर तो जैन परम्परा के समान वैचारिक आग्रह को मुक्ति में बाधक मानते हैं। विवेकचूड़ामणि में वे कहते हैं कि विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिता, शास्त्र-व्याख्यान की पटुता और विद्वत्ता यह सब भोग का ही कारण हो सकते हैं, मोक्ष का नहीं।[3] शब्दजाल चित्त को भटकाने वाला एक महान् वन है। वह चित्तभ्रान्ति का ही कारण है।[4] आचार्य विभिन्न मत-मतान्तरों से युक्त शास्त्राध्ययन को भी निरर्थक मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि परमतत्त्व का अनुभव नहीं किया तो शास्त्राध्ययन निष्फल है और यदि परमतत्त्व का ज्ञान हो गया तो शास्त्राध्ययन अनावश्यक है।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर की दृष्टि में वैचारिक आग्रह या दार्शनिक मान्यताएँ आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं रखती। वैदिक नीति-वेत्ता शुक्राचार्य आग्रह को अनुचित और मूर्खता का कारण मानते हुए कहते हैं कि अत्यन्त आग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि अति सब जगह नाश का कारण है। अत्यन्त दान से दरिद्रता, अत्यन्त

---

१. गीता, १६-१०.
२. वही, १७.१९, १८।३५.
३. विवेकचूड़ामणि, ६०.
४. वही, ६२.
५. वही, ६१.

लोभ से तिरस्कार और अत्यन्त आग्रह से मनुष्य की मूर्खता परिलक्षित होती है।[1] वर्तमान युग में महात्मा गाँधी ने भी वैचारिक आग्रह को अनैतिक माना और सर्वधर्म समभाव के रूप में वैचारिक अनाग्रह पर जोर दिया। वस्तुतः आग्रह सत्य का होना चाहिए, विचारों का नहीं। सत्य का आग्रह तभी तो हो सकता है जब हम अपने वैचारिक आग्रहों से ऊपर उठें। महात्माजी ने सत्य के आग्रह को तो स्वीकार किया, लेकिन वैचारिक आग्रहों को कभी स्वीकार नहीं किया। उनका सर्वधर्म समभाव का सिद्धान्त इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में अनाग्रह को सामाजिक जीवन की दृष्टि से सदैव महत्त्व दिया जाता रहा है, क्योंकि वैचारिक संघर्षों से समाज को बचाने का एक मात्र मार्ग अनाग्रह ही है।

**वैचारिक सहिष्णुता का आधार—अनाग्रह ( अनेकान्त दृष्टि )**

जिस प्रकार भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के काल में वैचारिक संघर्ष उपस्थित थे और प्रत्येक मतवादी अपने को सम्यक्दृष्टि और दूसरे मिथ्यादृष्टि कह रहा था, उसी प्रकार वर्तमान युग में भी वैचारिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर है। सिद्धान्तों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींची जा रही हैं। कहीं धर्म के नाम पर एक दूसरे के विरुद्ध विषवमन किया जा रहा है। धार्मिक या राजनैतिक साम्प्रदायिकता जनता के मानस को उन्मादी बना रही है। प्रत्येक धर्मवाद या राजनैतिक वाद अपनी सत्यता का दावा कर रहा है और दूसरे को भ्रान्त बता रहा है। इस धार्मिक एवं राजनैतिक उन्माद एवं असहिष्णुता के कारण मानव मानव के रक्त का प्यासा बना हुआ है। आज प्रत्येक राष्ट्र का एवं विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध है। एक ओर प्रत्येक राष्ट्र की राजनैतिक पार्टियाँ या धार्मिक सम्प्रदाय उसके आन्तरिक वातावरण को विक्षुब्ध एवं जनता के पारस्परिक सम्बन्धों को तनावपूर्ण बनाये हुए हैं, तो दूसरी ओर राष्ट्र स्वयं भी अपने को किसी एक निष्ठा से सम्बन्धित कर गुट बना रहे हैं और इस प्रकार विश्व के वातावरण को तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध बना रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं यह वैचारिक असहिष्णुता, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को विषाक्त बना रही है। पुरानी और

---

१. शुक्रनीति, ३।२११-२१३.

नई पीढ़ी के वैचारिक विरोध के कारण आज समाज और परिवार का वातावरण भी अशान्त और कलहपूर्ण हो रहा है। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो लोगों को आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए दिशा-निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दो ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने इस वैचारिक असहिष्णुता की विध्वंसकारी शक्ति को समझा था और उससे बचने का निर्देश दिया था। वर्तमान में भी धार्मिक, राजनैति और सामाजिक जीवन में जो वैचारिक संघर्ष और तनाव उपस्थित हैं उनका सम्यक् समाधान इन्हीं महापुरुषों की विचार सरणी द्वारा खोजा जा सकता है। आज हमें विचार करना होगा कि बुद्ध और महावीर की अनाग्रह दृष्टि द्वारा किस प्रकार धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक सहिष्णुता को विकसित किया जा सकता है।

**प्रो० सागरमल जैन**

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान

वाराणसी

Library IIAS, Shimla
H 181.492 J 199 J
00094582